उपभोक्तावादी संस्कृति का भारत की शिक्षा और नैतिकता पर प्रभाव

मंजू रानी

हिन्दी प्रवक्ता,

रा.व.मा.वि.,जाखौली जिला सोनीपत

प्रसतावना :

भूमंडलीकरण के उपोत्पन्न मीडिया संस्कृति का प्रभाव व्यक्ति की मानसिकता गहराई से प्रभावित करता है। भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति से ऐसा समाज उभरकर आया है कि वहाँ पैसा ही सब कुछ है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति को अपनी मानसिकता कुर्बान करनी पड़ती है।

चन्दना पाण्डेय की कहानी 'भूलना' में शहर के चकाचौंध में अपनी कमियों को पूरा करने की आकुलता में फँसे एक परिवार की कहानी है। कृष्ण किशोर के अनुसार – ''चन्दन की 'भूलना' कहानी आज के निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की आकांक्षाओं का विद्रूप और विडम्बना एक यांत्रिक निर्ममता के साथ सामने लाती है। परिवार के छोटे बेटे गुलशन की परीक्षा में सफलता सारे परिवार का आशा स्तंभ है।''[1] यहाँ परिवार वालों के ज्यादा कमाने की क्रूर मानसिकता ने गुलशन को अन्धा और बहरा बना दिया है। कथावाचक कहता है – ''भाई को लेकर जो हमारी सबसे क्रूर ख्वाहिश थी, वह अमीर बन जाने की थी। गुलशन की नौकरी को लेकर हम दस हज़ार रुपये तक ही सोच पाते थे। दस हज़ार रुपये के पार की तनख्वाह तक जैसे ही हमारी बात पहूँचती (मेरी, पिताजी, सीमा, माँ) – तो मेरे पेट में कैसी तो हुदहुदी मच जाती थी, मैं उत्तेजित हो जाता, मेरे हाथ–पैर काँपने लगते थे। हम सभी की हालत कोबेश ऐसी होती।''[2]

कथावाचक अपनी सिरदर्द से तड़पती बहन की इलाज और घर की बुरी हालत सुधारने के लिए छोटे भाई गुलशन को, जो पढ़ाई में तेज था, बडी तनख्वाह वाले पद पर चढ़ा देना चाहता है – ''अपने तई हमने बहन का बहुत इलाज कराया। कोई पागलपन की दवा देता था, कोई नींद की और कोई पेट की दवा देता था। एक आखिरी इलाज हम लोगों के पास था – भाई की नौकरी, जो हमारे सपनों की दूकान बनने वाली थी।''[3]

अपने सपनों के साकार के होने लिए वे गुलशन को इंजीनियर बनाना चाहते हैं। आज के बढ़ते प्रौद्योगिकी के साथ तकनीकी शिक्षा की भी भरमार है। क्योंकि इस क्षेत्र में नौकरी पाने का ज्यादातर अवसर मिलता है। कुँवरलाल सिंह के अनुसार – ''आज शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज को शिक्षित करना नहीं अपितु, उसे डाक्टर, इंजीनियर बनाकर पैसा बनाने की मशीन तैयार करना है। शिक्षा का स्वरूप ज्ञानात्मक न होकर सूचनात्मक हो गया है, जहाँ न मानवीय मूल्य हैं, न मनुष्य की गरिमा की स्थापना है। नितांत वैयक्तिक लाभ और भोग–विलास की सुविधा का माध्यम होकर रह गई है शिक्षा।''[4]

इसलिए गुलशन को ऐसी तकनीकी शिक्षा देकर परिवार वाले अपने आपको आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रखना चाहते हैं। ''भाई को लेकर जो हमारी सबसे क्रूर ख्वाहिश थी, वह अमीर बन जाने की थी। गुलशन की नौकरी को लेकर हम दस हज़ार रुपये तक ही सोच पाते थे। दस हज़ार रुपये के पार की तनख्वाह तक जैसे ही हमारी बात पहुँचती (मेरी, पिताजी, सीमा, माँ) – तो मेरे पेट में कैसी तो हुदहुदी मच जाती थी, मैं उत्तेजित हो जाता, मेरे हाथ–पैर काँपने लगे थे। हम सभी की हालत कमोबेश ऐसी ही होती।''[5]

आज शिक्षा का मतलब ज्ञानप्राप्ति न होकर पैसा कमाने का रास्ता बन गयी है। कुँवरलाल सिंह के अनुसार – ''पिछले बीस सालों में शिक्षा व्यवस्था ज्ञान का नहीं, बल्कि व्यापार और मुनाफे का सौदा हो गयी है। शिक्षा के क्षेत्र में नव–धनाढ्य वर्ग का उदय हुआ और शिक्षा जगत् उसके चंगुल से फँस गया है।''[6]

वे ऐसी शिक्षा का प्रोत्साहन दे रहे हैं, जो समय की माँग होती है। वे ऐसी शिक्षा का प्रोत्साहन दे रहे हैं, जो समय की माँग होती है। अर्थात् बाज़ार के लिए आवश्यक तकनीकी शिक्षा, जिससे पूँजी का संचयन आसान हो जाता है।

दिनेश भट्ट के अनुसार – ''शिक्षा के माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास को एक सामाजिक आवश्यकता मान जाता है लेकिन यह सिद्धांत अब क्षीण होता जा रहा है क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक निजीकरण एक सामान्य बात बन चुकी है। बाज़ार के तहत शिक्षा संसाधन के लिए दी जाती है। संसाधन के विकास के लिए शिक्षा समाज में मनुष्य को एक जीवंत इकाई मानते हुए मात्र एक संसाधन के रूप में देखती है। यह शिक्षा मनुष्य को उत्पादकता बढ़ाने व प्रोन्नत प्रोद्योगिकी के अनुरूप बनाने का प्रयास करती है। यहाँ ज्ञान भी एक पूँजी जैसा हो जाता है।''[7]

अतः बच्चों को ऐसी तकनीकी शिक्षा देकर अमीर बन जाने का सपना आज के माँ–बाप रचते हैं। इस बाज़ारवादी सोच बच्चों की जगह 'दुकान' प्रतिष्ठित करता है। इससे बच्चे माँ–बाप के प्यार, वात्सल्य, ममता आदि से वंचित रहते हैं। गुलशन के परिवार के सदस्यों भी इस बाज़ारवादी सोच का शिकार बन गये हैं। इसलिए वे अपने ख्वाहिश की पूर्ति के नाते गुलशन को भूलते गये – ''गुलशन को भूलते जाने की बीमारी अगर सिर्फ मुझे होती, तो मैं कभी यह सोचने की कोशिश भी नहीं करता कि ऐसा क्यों हो रहा है। पर मैं देखा रहा था कि हम सभी गुलशन को भूलते जा रहे थे और तो और माँ भी। हमारी तकलीफ यह थी कि ऐसा हमसे अनायास ही होता जा रहा था। हम चाहकर भी कुछ नहीं कर पा रहे थे।''[8]

गुलशन की दुनिया से प्यार, ममता, वात्सल्य आदि को दूर कर दिया जाता है। उसकी दुनिया में केवल पढ़ाई है। परिवार के सदस्यों में किसी ने भी गुलशन की पढ़ाई में बाधा डालना नहीं चाहते। इससे गुलशन की संवेदनाएँ धीरे–धीरे नष्ट होते गये और उसके व्यवहार में एक तरह की यांत्रिकता छा गयी। कहानी के शब्दों में – ''बोलना–चालना तो गुलशन ने तभी से बन्द कर दिया था जिस दिन से

हमने उसे इंजीनियरिंग कॉलेजों की प्रवेश परीक्षाओं की तैयारी में लगा दिया था। हो सकता है ज़रूरी क्रियाकलापों के अलावा बाकी समय सिर्फ पढ़ाई–लिखाई पर देने से उसे कुछ अन्य सोचने की फुर्सत भी नहीं रही होगी। या फिर बहुत सम्भव है यह भी हुआ हो कि हमारे सपने, हमारी उम्मीदें उसके कहीं गहरे जाकर धँस गयी हों। उन दिनों गुलशन कुछ बोला भी होगा तो छीठ–छमोरा ही, वह भी सिर्फ माँ से ही बोला होगा।''[9]

यह गुलशन की ही नहीं, इस बाज़ारवादि युग के हर बच्चे की हालत बन गये हैं। हरीचरण प्रकाश की 'तस्वीर का तिलक' कहानी में माँ–बाप और बेटी का रिश्ता दर्शाया है। इसमें दिखाया गया है कि उमा–नामप्रकाश बेटी को सुरक्षित, प्रतिभूत बनाना चाहते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि बेटी डॉक्टर बनें। क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति उनके सपनों को साकार नहीं बना पाती। इसलिए बेटी को डॉक्टर बनाने के लिए उमा टीचर बनती है। कहानी के शब्दों में – ''उमा नामप्रकाश की ख्वाहिश है कि वह अपनी बेटी की शादी किसी अफसर से करेंगे। अगर इसके लिए पैसा नहीं है, जो कि नहीं ही है, तो यह ज़रूरी है कि बेटी कुछ बने। नामप्रकाश के लड़कियों के लिए लेडी डॉक्टरी का रोल बहुत जंचता था। टीचरी उसे जंची नहीं और नर्सगीरी तो बेइज्जती है। आकांक्षा डॉक्टर बने इसके लिए उमा टीचरी करने जा रही है।''[10]

आज बच्चे अपने रुचि से नहीं जी रहे हैं, बल्कि माँ–बाप द्वारा थोपे गये कार्य निभाना उनका फर्ज बन गया है। इससे बच्चों का अपना स्वत्व नष्ट हो जाता है और वह इस यांत्रिक क्रियाकलापों से खुद भी यांत्रिक महसूस करते हैं। अतः कह सकते हैं कि आजके माँ–बाप बच्चों को नहीं मशीन पैदा करते हैं। माँ–बाप के इस अंधी बाज़ारी आकांक्षा के कारण गुलशन को अपना स्वत्व नष्ट हो जाता है। वह यांत्रिक बन जाता है। परिवार वाले पढ़ाई के नाम पर उसे एक यांत्रिक एकाग्रता में धकेल दिया जाता है। इससे परिवार वालों के मन से वह दूर हो जाता है। कहानी के शब्दों में – ''उन दिनों हमें ये बराबर महसूस होता रहा था कि गुलशन का बोलना–चालना एकदम न के बराबर रह गया है। बस, कभी–कभी माँ से बोल लिया। खेलकूद, यार, दोस्त सब छूट गये थे। पर गुलशन के पढ़ते रहने को लेकर हमारी खुशी इतनी ज्यादा थी कि हम कुछ और देखकर भी नहीं देख पा रहे थे। हमारे बाहर, हमारे बीच में, हमारे भीतर कुछ ऐसा था जो निरन्तर अपनी गति से घट रहा था, बस हमें उसकी खबर नहीं थी।''[11] इसलिए ही जन गणना वालों के सामने परिवार के सदस्यों का नाम बताते वक्त गुलशन का नाम बताना छूट जाता है और गुलशन की उपस्थिति से बेखबर, बाथरूम में आतंकवादी होने की कल्पना की जाती है। तथा पुलिस के मारपीठ से वह अन्धा और बहरा बन जाता है। इसके बारे में रोहिणी अग्रवाल का कहना है – ''लेखक ने घटना को अतिरंजित रूप दिया है और अपनी ही 'फोकस्ड' तल्लीनता में कैद गुलशन को पुलिस और समाज के सामने अकारण 'आतंकवादी' घोषित होते दिखाया है। क्या यह रूपक इसलिए कि स्नेह, संवाद और विश्वास के अभाव में ही पनपता है आतंकवाद? और आतंकवाद का पहला शिकार है अपने में तल्लीन मासूमियत? गुलशन की तरह? याह इसलिए कि हमारे

भीतर की असुरक्षा और बदहवासी हमें स्थितियों को समग्रता में चीन्ह ने ही नहीं देती और बौखलाहट बनकर खुद हमें तोडने लगती है? या रूपक इसलिए कि द्वन्द्व और प्रश्न से परे दूसरों के सपनों का दुर्वह भार सहता हर गुलशन किसी न किसी भावनात्मक हादसे का शिकार होकर शारीरिक मानसिक रूप से पंगु और पराश्रित जिन्दगी जीने को अभिशप्त है?''[12]

उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिस लालसा को जन्म दिया है, उसमें नैतिक मूल्यों का खास मतलब नहीं रहता। इसी कारण से व्यक्ति ज्यादा–से–ज्यादा कमाने को सोचता है। यह उपभोक्तावादी संस्कृति की परिणति मानसिक गुलामी होता है। प्रस्तुत कहानी के कथावाचक भी इससे कदापि मुक्त नहीं है। वह कहता है – ''अगे मा गो! हे भगवान, ये मैं क्या सोच रहा हूँ। पच्चीस हज़ार! वह भी एक साथ! आप खड़े–खड़े देख क्या रहे हैं, मुझे इतना ज्यादा सोचने से रोकते क्यों नहीं? मेरे भाई, मेरे बन्धु मेरी सोच को वापस खींचिए। उसे दौड़कर पकड़ लीजिए। मैं आपका अभारी रहूँगा। हमेशा के लिए।''[13]

वह इसलिए मुक्त नहीं है क्योंकि उपभोक्तावादी संस्कृति उसमें उतनी गहराई में नींव डाली है। गुलशन की दारुण स्थिति से भी वह अपने सपनों को साकार बनाने की ख्वाहिश छोडा नहीं, उसकी सात साल की बेटी शालू को लेकर वह अपने खोये हुए सपनों को पुनः रचता है – ''मुझे लगता है कि मेरे भाई गुलशन देखने–सुनने की प्राकृतिक क्षमता के असामयिक लोप से उपजी सारी असफलताओं से जो कुछ भी सपनों सरीखा हममें छूट गया था, वह मेरी बिटिया रानी पलक झपकते ही पूरा कर देगी।''[14]

गुलशन की हादसे से परिवार वाले दुःखी तो अवश्य है लेकिन उनमें निहित बाज़ारी नैतिकता शालू को भी 'उपयोगी' बनाने की सोच के लिए विवश करते हैं। इसलिए कृष्ण किशोर कहते है – ''पुलिस द्वारा अन्धा बहरा बनाया गुलशन कहाँ, क्या फर्क डालता है। परिवार कैसे ही चलता है और गुलशन तो आज हर घर में हैं।''[15]

आज की शिक्षा प्रणाली बच्चों की नैतिकता के रूपायन में बहुत बड़ा हस्तक्षेप करती है। आज शिक्षा का अर्थ बदल गयी है। शिक्षा संस्थानों का निजीकरण हो रहा है। अतः शिक्षा संस्थाएँ मुनाफा कमाने का बाज़ारी केन्द्र बन जाती है। अनिल कुमार पाण्डेय के अनुसार – ''पूँजी के भूमंडलीकरण के इस दौर में, जिसमें एक वैश्विक बाज़ार बनाने और उस पर कब्जा जमाने की कोशिश पूँजीवादी और साम्राज्यवादी शक्तियाँ कर रही हैं, शिक्षा भी बाज़ार में बिकने वाली वस्तु बन गयी है और शिक्षित लोग भी एक संसाधन बन गये हैं, जिनका इस्तेमाल पूँजीपति अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए करते हैं। इसलिए संसाधन के रूप में मनुष्य का विकास करना व्यापार में लागत लगाकर मुनाफा कमाने जैसी प्रक्रिया है। आज के बाज़ारवादी समय में शिक्षा को इसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।''[16]

चन्दन पाण्डेय की 'सिटी पब्लिक स्कूल, वाराणसी' कहानी में ऐसे एक शिक्षा संस्थान का चित्र उपस्थित है, जिसका लक्ष्य केवल मुनाफा कमाना है। यहाँ मुनाफे के लिए बच्चों में कुसंस्कृति का प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस तरह प्राइवट स्कूलों में शिक्षा को कम महत्व देने के कारण बच्चे

आसानी से बिगड जाता है। अब शिक्षा में मानवीय मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि ''शिक्षा को 'मानवीय संसाधन विकास' कहने लगे।''[17]

प्रस्तुत कहानी का तरुण आर्थिक रूप से संपन्न परिवार का है। आज की शिक्षा नीति और पैसे का ताकत से वह भली भांति परिचित है। इसलिए स्कूल की सारी बुराइयों का वह नेतृत्व करता है। परीक्षा में फेल होने पर भी वह डरता नहीं। उसका कहना है – ''ये प्राइवट स्कूल है–नाइन्थ तक तो मैं फोर टु फाइव पेपर्स में फेल होता रहा, तो मैं अगले क्लास में कैसे आ जाता था, पता है? पहले तो फेल होने परी डाँटा जाता था पर जैसे ही मेरी मम्मी डाइरेक्टर से कहती कि तो मुझे दूसरे स्कूल में डालने जा रही है तो डाइरेक्टर सर मेरे सर्टिफिकेट पर क्या तो लिख देते थे कि मैं नेक्स्ट क्लास के लिए प्रमोट हो जाता था। सोच लो अपने स्कूल में नियरली फिफटीन हंड्रेड स्टूडेंट्स हैं पर डाइरेक्टर सर को एक स्टूडेण्ट तक का स्कूल छोडना पसन्द नहीं है, और यहाँ हम तो चार हैं।''[18]

स्कूल अधिकारियों के इस तरह के व्यवहार से परिचित होने के कारण ही तरुण स्कूल के कंप्यूटर लैब में ब्लू फिल्म देखने का साहस करता है। अध्यापक द्वारा पकडे जाने पर भी वह डरता नहीं। क्योंकि उसे पता है कि पब्लिक स्कूलों में अध्यापक को वेतन बहुत कम मिलता है। वह तो एक बच्चे द्वारा दी गयी फीस से बहुत कम होता है। इसलिए स्कूल अधिकारी बच्चों को स्कूल से नहीं निकाला जाता है, अध्यापक को निकाल दिया जाता है। क्योंकि शिक्षा संस्थाओं के निजीकरण से शिक्षा भी एक व्यवसाय बन गया है।

अतः मुनाफा बढ़ाना इसका लक्ष्य बन जाता है। कुँवरलाल सिंह के अनुसार – ''बडे पूँजीपति, उद्योगपति और बडे व्यापारी षिक्षा के क्षेत्र को एक व्यावसायिक क्षेत्र बना रहे है। अब शिक्षा शुद्ध मुनाफे का सौदा है। पहले ज्ञान का और भारतीय मूल्यों का प्रचार–प्रसार होता था। अब केवल वे ही विषय पढ़ाये जाते हैं, जो मुनाफे का सौदा करने में सक्षम हैं।''[19]

तरुण का स्कूल, सिटी पब्लिक स्कूल, वाराणसी भी एक व्यावसायिक केन्द्र है। तरुण के शब्दों से यह स्पष्ट होता है – ''और ये अजीत सर कितना पाता है, पता है? उससे फाइव थाउजेंट की सेलरी पर सिगनेचर लिया जाता है और उसे सेलरी के तौर पर आधा दिया जाता है। यानी पच्चीस सौ। यू नो, सो चीप दैट ही वर्क्स ओनली फॉर ट्वेन्टी फाइव हण्ड्रेड, समझे! इसी आइडिया से डाइरेक्टर सर अपनी ब्लैकमनी को मिल्क कलर्ड बनाते हैं। अगर अजीत सर से कहा जाय तो वो दो हज़ार पर भी माना जाएगा, यहाँ तो छः–छः महीने मुफ्त में पढ़ाने वाले तैयार खडे हैं! और डाइरेक्टर सर के बारे में कुछ पता है? उनकी फैमिली पहले सुनारी और ठेकेदारी का काम करती रही है पर जब वहाँ नुकसान आये। तुम्हें क्या लगता है, जिसे वो पैसा देते हैं उसके कहने पर उसे वो स्कूल में निकाल देंगे जिससे सारे पैसा लेते हैं। गवर्नमेंट स्कूल समझा रखा है क्या?''[20]

ऐसे में शिक्षा का अर्थ बदल जाता है और इस प्रकार की शिक्षा से बच्चों की मानवीय संवेदना नष्ट हो जाता है। बच्चे असभ्य और कुसंस्कृत बन जाता है। अनीता रामपाल आज की शिक्षा के बारे में यों कहती है – ''आजकल शिक्षा का अर्थ यह भी लिया जाने लगा है कि बच्चों को ज्ञानवान, सभ्य, सुसंस्कृत और सचेत मनुष्य या जिम्मेदार नागरिक बनाने की कोई जरूरत नहीं, सिर्फ कुछ कामकाज उन्हें सिखा दिया जाये, जिसे करके वे कमा खा सकें।''[21]

इसलिए ही तरुण अपने अध्यापक के प्रति आदर नहीं करता और खुद के बचाव के लिए अध्यापक को बेइज्जत ठहराने की कोशिश करता है। इसके लिए अपनी मम्मी और अध्यापक के साथ की रिश्ते का वह सुलासा करता है। कहानी के शब्दों में – ''क्लासमेट्स को अपनी तरफ आते देख या जाने क्या सोचकर तरुण ने अजीत सर से बिल्कुल हिन्दी में कहा – ''सर मेरी मम्मी आपको याद कर रही थी।'' इस एक सेन्टेन्स पर अजीत सर तमतमा कर लाल हो गये और तरुण का सिर पीछे दीवार में लड़ा दिया था। फिर माउस से अपना हाथ हटाया और एकाध सेकेंड्स में ही क्लास से बाहर चले गये थे।''[22]

बच्चों की संवेदनहीनता का एक और कारण इन शिक्षा संस्थाओं की भाषा है। प्रायः सभी पब्लिक स्कूलों का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा है। अनिल सद्गोपाल का कहना है – ''अंग्रेज़ी हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था पर हावी हो गयी है और अंग्रेज़ी का माध्यम आज समाज को आगे बढ़ाने और खुद को आगे बढ़ने का एकमात्र रास्ता माना जाता है।''[23]

हमारी संस्कृति को बनाए रखने में भाषा की अहम भूमिका है। अपनी संस्कृति की पहचान अपनी भाषा से ही संभव है। क्योंकि अपनी सोच का विस्तार अपनी भाषा से ही संभव है। व्यक्ति जिस समाज में रहकर, उस समाज की भाशा में सोचे–विचारे तो वह व्यक्ति उस समाज की संस्कृति से भली–भाँति परिचित होंगे। लेकिन हमारे समाज में रहकर व्यक्ति अंग्रेज़ी भाषा में सोचेंगे तो वह अपनी संस्कृति से विलग हो जाएँगे। आज की शिक्षा संस्थाएँ अंग्रेज़ी को माध्यम भाषा बनाकर बच्चों को अपनी संस्कृति से अलग करने की कोशिश करते हैं। प्रस्तुत कहानी में इसका स्पष्ट चित्र उपस्थित है – ''टीचर्स के साथ स्कूल कैम्पस में हिन्दी टोटली प्रॉहिबिटेड थी। टीचर्स के अलावा भी हम हर उस जागह इंग्लिश ही यूज करते थे। जहाँ लगता था कि उसे हिन्दी में कहते ही हम एक्सपोज हो जाएँगे। लड़कियों से भी अगर हम एक ब्यूटीफुल पीस के तौर पर बात करते, जहाँ आगे एक अफेयर की उम्मीद रहती थी, तो हम इंग्लिश ही यूज करते थे।''[24]

इस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा से बच्चों की संवेदनाओं को टुकरा देते हैं। अंग्रेज़ी भाषा से अपनी पूरी संवेदनाओं को व्यक्त नहीं कर सकते। इसलिए तरुण अपनी मम्मी और अजीत सर के रिश्ते के बारे में 'हिन्दी' में खुलकर बताता है। तरुण को पता है कि हिन्दी में बताने से उस बात के पूरे भावों का आदान–प्रदान संभव हो जाएगा। अतः हिन्दी की उस एक वाक्य से अजीत सर तमतमाकर लाल हो गया।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाज़ार से मनुष्य की नैतिकता और नैतिकता बोध में काफ़ी अंतर उपस्थित कर दिया है। बाज़ार की संस्कृति हमेशा लाभ पर केन्द्रित है। लाभ होने की संभावना हो तो कुछ भी बिक सकता है यहाँ। बेचने योग्य के विशेषण के साथ नैतिकता भी यहाँ जुड जाती है। यह स्थिति जहाँ लाभेच्छा में नैतिकता को त्याग दिया जाता है समाज को विकृत करती है।

पाद टिप्पणी

1. कृष्ण किशोर, अन्यथा, अंक 13, पृ. 15
2. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 52
3. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 57
4. कुँवरलाल सिंह, वर्तमान साहित्य, अगस्त 2009, पृ. 79
5. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 52
6. कुँवरलाल सिंह, वर्तमान साहित्य, अक्तूबर 2009, पृ. 79
7. दिनेश भट्ट, नई सदी बाज़ार, समाज और शिक्षा, पृ. 6
8. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 57
9. वही, पृ. 56
10. हरीचरण प्रकाश, उपकथा का अंत, पृ. 92
11. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 55
12. रोहिणी अग्रवाल, अन्यथा, अंक 13, पृ. 120
13. चन्दन पाण्डेय, भूलना, पृ. 46
14. वही, पृ. 47
15. कृष्णा किशोर, अन्यथा, अंक 13, पृ. 16
16. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं.), शिक्षा और भूमंडलीकरण, पृ. 42
17. वही, पृ. 31
18. चंदन पाण्डेय, भूलना, पृ. 141
19. कुँवरपाल सिंह, वर्तमान साहित्य, सितंबर 2009, पृ. 79
20. चंदन पाण्डेय, भूलना, पृ. 141
21. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं.), शिक्षा और भूमंडलीकरण, पृ. 32
22. चंदन पाण्डेय, भूलना, पृ. 140
23. रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं.), शिक्षा और भूमंडलीकरण, पृ. 21
24. चंदन चंदन पाण्डेय, भूलना, पृ. 142